प्रतिमान

समय समाज संस्कृति

जुलाई-दिसम्बर, 2013 (वर्ष 1, खण्ड 1, अंक 2)

समाज-विज्ञान और मानविकी की पूर्व-समीक्षित अर्धवार्षिक पत्रिका

भारतीय भाषा कार्यक्रम

विकासशील समाज अध्ययन पीठ (सीएसडीएस)

29, राजपुर रोड, दिल्ली-110054 फोन : 91.11. 23942199

ईमेल : pratiman@csds.in; वेबसाइट : www.csds.in/pratiman

+

21-ए, दरियागंज, नयी दिल्ली-110002 फोन : 91.11.23273167, 23275710

ईमेल : vaniprakashan@gmail.com; वेबसाइट : www.vaniprakashan.in

सेंटर फॉर द स्टडी ऑफ़ डिवेलपिंग सोसाइटीज़, 29, राजपुर रोड, दिल्ली-110054 के निदेशक राजीव भार्गव के लिए प्रकाशक एवं मुद्रक अमिता माहेश्वरी, वाणी प्रकाशन, 21-ए, 4695, दरियागंज, नयी दिल्ली-110002 द्वारा प्रकाशित और ऑप्शन प्रिंटोफास्ट, 41, पटपड़गंज इंडस्ट्रियल एरिया, दिल्ली-110092 में मुद्रित। सम्पादक : अभय कुमार दुबे

अनुक्रम

प्रतिमान
समय समाज संस्कृति

अकादमीयता का आग्रह और विमर्श-रचना

यह ***प्रतिमान*** *समय समाज संस्कृति* का दूसरा अंक है। अलग तरह के कलेवर, विभिन्न अनुशासनों में आवाजाही करने वाली विविध सामग्री और दृश्य-सज्जा के मिले-जुले प्रभाव के कारण पत्रिका का प्रवेशांक उम्मीद के मुताबिक़ सराहना अर्जित करने में सफल रहा। हिंदी के विमर्शी संसार से आने वाली आवाज़ों ने भरोसा दिलाया कि लोग शायद ऐसी ही एक पत्रिका की ज़रूरत महसूस कर रहे थे। लेकिन, विद्वानों और सुविज्ञ पाठकों की तारीफ़ों से उपजने वाले ख़ुशनुमा एहसास के भीतर ही वे आलोचनाएँ छिपी हुई थीं जिनके सहारे ***प्रतिमान*** जैसी पूर्व-समीक्षित पत्रिका अपना दीर्घकालीन भविष्य गढ़ सकती है। साहित्य, पत्रकारिता और अकादमिक क्षेत्रों से हुए अनौपचारिक-अनौपारिक संवाद के ज़रिये इस प्रयास की जो आलोचनात्मक समीक्षा उभरी, उसके प्रमुख आयाम इस प्रकार हैं :

अकादमीय दुनिया का ख़याल यह है कि पहला अंक साहित्य की तरफ़ कुछ ज़्यादा ही झुका हुआ था। आलोचक हमारे इस तर्क से तो सहमत थे कि हिंदी में व्यवस्थित समाज-वैज्ञानिक और मानविकीय विमर्श के स्वतंत्र और स्वायत्त संसार की ज़मीन रचनात्मक साहित्य और पत्रकारिता के सुस्थापित और विस्तृत जगत को सम्बोधित किये बिना नहीं बन सकती। पर उन्होंने यह भी ध्यान दिलाया कि हम यह काम साहित्य के समाजशास्त्र की शर्तों को दरकिनार करके नहीं कर सकते, और साहित्यिक आलोचना की शैली का दामन पकड़ कर तो इसे क़तई नहीं किया जा सकता। शुरुआती चकाचौंध से उबरने के बाद कुछ पाठकों ने हिचकती हुई आवाज़ में यह भी पूछा कि आख़िर इस पत्रिका के लेखक कौन सी भाषा का इस्तेमाल कर

रहे हैं ? यह कहाँ से आयी है और इसके भीतर पैठने के लिए क्या हमें फिर से किसी कक्षा में बैठना होगा ? इस पूछताछ में कुछ व्यंग्य का पुट था, और कुछ प्रशंसा का। इन आलोचकों में से कम से कम दो ने तो साफ़ तौर पर अपनी दिक़्क़त बताते हुए क़बूल किया कि शोध-लेख पढ़ते हुए बीच-बीच में नीचे की विस्तृत पाद-टिप्पणियाँ भी पढ़ते जाने और बाद में पीछे दी गयी संदर्भ-सूची पचाने में उन्हें कुछ समय लग सकता है।

साहित्यिक और पत्रकारीय दुनिया ने माथे पर बल डालते हुए सवाल उठाया है कि यह पूर्व-समीक्षा क्या बला है ? हम लेख लिखेंगे, आप कहते हैं तो संदर्भ और पाद-टिप्पणियाँ भी दे देंगे, और उन्हें उसी प्रारूप में बना देंगे जिसमें आप चाहते हैं, तो भी क्या पूर्व-समीक्षा करने वाले अज्ञात लोग हमारा लेख ख़ारिज कर देंगे या छपवाने के लिए हमें उसे पूरा फिर से लिखना होगा ? हिंदी में समाज-विज्ञान और मानविकी के अनुसंधानपरक लेख लिखने वालों की उदीयमान नयी पीढ़ी (जिसकी संख्या हमारे अनुमान से कहीं ज़्यादा बड़ी है) की उलझन यह थी कि सम्पादकगण और उसके पूर्व-समीक्षक लेखक की तरफ़ से जिस 'योगदान' या कुछ नयी बात कहने की उम्मीद करते हैं वह दरअसल क्या है ? दिलचस्प बात यह है कि इन लेखकों ने सम्पादकों और पूर्व-समीक्षकों द्वारा माँगी गयी पहली शर्त के बारे में कोई पूछताछ नहीं की है। यह पहली शर्त माँग करती है कि लेखक के पास अपने विषय से संबंधित पर्याप्त विद्वत्ता होनी चाहिए। एक अन्य आलोचना घुमा-फिरा कर वही है जिसे हमने प्रवेशांक के सम्पादकीय में सम्बोधित किया था कि हिंदी में या किसी भी अन्य भारतीय भाषा में समाज-विज्ञान और मानविकी की रचनाएँ लिखने की क्या ज़रूरत है जबकि अंग्रेज़ी में यही काम करने की परम्पराएँ पहले से स्थापित हैं।

ये सभी आलोचनाएँ, शंकाएँ और सवाल स्वागतयोग्य हैं। अगर इन पाँचों आयामों के मर्म में दिख रहे अकादमीयता, साहित्यिकता और पत्रकारीयता के परस्परव्यापी सरोकारों का इतिहास और वर्तमान की दृष्टि से कारगर सीमांकन कर लिया जाए तो ***प्रतिमान*** जैसे उद्यम को और गहराई से समझा-समझाया जा सकता है।

एकेडेमिक जर्नलों का इतिहास क़रीब साढ़े तीन सौ साल पुराना है। सत्रहवीं सदी में आर्थिक लाभ के ऊपर सूचना और ज्ञान को प्राथमिकता देने वाली संस्थाओं ने इन पत्रिकाओं का प्रकाशन इसलिए शुरू किया था कि विद्वानों और चिंतकों के बीच सम्पर्क और संवाद केवल निजी मुलाक़ातों और रॉयल सोसाइटी ऑफ़ लंदन जैसी संस्थाओं की बैठकों में होने वाली चर्चाओं पर ही निर्भर न रहे। दूसरे, समय के साथ-साथ इस तरह की संस्थाओं की सदस्य-संख्या बढ़ती जा रही थी जिसके कारण सभी सदस्यों का इन बैठकों में भाग लेना मुमकिन नहीं रह गया था। न ही इन बैठकों में व्यावहारिक रूप से सभी विद्वान सदस्यों के अनुसंधानों की प्रस्तुति हो पाती थी। ज्ञान के क्षेत्र में हो रहे इस प्रसार के कारण अकादमीय पत्रिकाओं की ज़रूरत बढ़ती चली गयी।

सबसे बड़ी बात तो यह थी कि अकादमीय पत्रिकाओं के कारण विभिन्न खोजों, आविष्कारों और सूत्रीकरणों से जुड़े श्रेय संबंधी विवाद कम होते चले गये। कोई नया वैज्ञानिक आविष्कार, कोई नयी सैद्धांतिक खोज और कोई नया प्रमेय जैसे ही सामने आता था, किसी न किसी तरफ़ से यह कहा जाने लगता था कि यह मौलिक नहीं है और इसे तो पूरी तरह से या इसका कोई आयाम पहले ही खोजा जा चुका है। श्रेय लेने की यह छीन-झपट अट्ठारहवीं और उन्नीसवीं सदी तक जारी रही, और इनका शमन तभी हो पाया जब एकेडेमिक जर्नल्स में छपने की परम्परा ज्ञान के विकास के साथ अनिवार्यतः जुड़ गयी। शुरू में क़रीब डेढ़ सौ साल तक ये जर्नल पीयर-रिव्यूड या पूर्व-समीक्षित नहीं होते थे। लेकिन, धीरे-धीरे अकादमीय लेखन में मानकों की तलाश इन पत्रिकाओं को पूर्व-समीक्षित बनाने की तरफ़ ले गयी।

अकादमीय पत्रिकाओं ने एक अलग तरह के संसार की रचना की जो कहानी-कविता-नाटक या साहित्यालोचना के जगत से अलग था। यह पत्रकारिता या मीडिया के जगत जैसा भी नहीं था। यह दुनिया संस्थागत रूप से शिक्षा संस्थानों, उन्हें चलाने वाले सरकारी विभागों और मंत्रालयों, पुस्तकालयों, अनुसंधान केंद्रों और अकादमियों से जुड़ी हुई थी। इसमें वैज्ञानिक, दार्शनिक, इतिहासकार, शिक्षाशास्त्री, पुरातत्वशास्त्री, भाषाशास्त्री, समाजशास्त्री, मानवशास्त्री, अर्थशास्त्री और इन्हीं दायरों में सक्रिय रहने वाले तरह-तरह के समाज-चिंतक बसते थे। इसमें होने वाले बौद्धिक उत्पादन का एक अपेक्षाकृत छोटा लेकिन प्रतिबद्ध क़िस्म का पाठक समूह था जिसमें मुख्य रूप से छात्रों, अनुसंधानकर्ताओं, अध्यापकों, तथ्यों-आँकड़ों और सर्वेक्षणों में दिलचस्पी रखने वाले बुद्धिजीवियों की संख्या अधिक थी।

जैसे-जैसे विभिन्न ज्ञानानुशासनों का विकास हुआ और उनकी चौहद्दियाँ सुपरिभाषित होने लगीं, उन्होंने अपने अलग-अलग जर्नल्स निकाले। ये जर्नल उन अनुशासनों में विकसित हो रहे ज्ञान के प्रामाणिक अभिलेखागार बन गये। उनके सहारे विभिन्न अनुशासनों में विद्वानों के समुदायों का निर्माण हुआ। इन जर्नलों ने अनुसंधान और विद्वत्ता के मानक स्थापित किये, उनके अनुपालन के लिए संहिताएँ बनायीं और अनुशासन के दायरों में बहसों के लिए मंच उपलब्ध कराया। विद्वानों की रचनाओं का मूल्यांकन करने और शोध की गुणवत्ता सुनिश्चित करने में पूर्व-समीक्षा की पद्धति ने प्रधान भूमिका निभायी। इसी के कारण नौकरी, पद, पदोन्नति, पुरस्कार वग़ैरह मिलने या न मिलने जैसे अकादमिक करियर संबंधी पहलू इन पत्रिकाओं में प्रकाशन के साथ जुड़ते चले गये। पहले व्यावसायिक संस्थाएँ अकादमीय जर्नल्स नहीं निकालती थीं, लेकिन सत्तर के दशक के बाद उत्तरोत्तर प्रकाशन समूहों ने इस क्षेत्र में हस्तक्षेप करना शुरू किया। आज इन पत्रिकाओं के संस्थागत आधार में दुनिया के बड़े प्रकाशकों की प्रभुत्वकारी हिस्सेदारी है। समाज-विज्ञान और मानविकी के अंग्रेज़ीपरक भारतीय नज़ारे में अपने-अपने अनुशासन की सेवा करने वाले जर्नल कमोबेश

यही भूमिका निभाते हैं।

ज़ाहिर है कि हम अपने इर्द-गिर्द विद्वानों, शोधकर्ताओं, चिंतकों और बुद्धिजीवियों के समुदाय की रचना करना चाहता है। किसी एक अनुशासन से बँधा न होने के कारण हमारा इरादा काफ़ी विस्तृत दायरे को अपनी बाँहों में समेटने का है। हर नये अंक के साथ यह जर्नल हिंदी में उत्पादित होने वाली अकादमीय सामग्री के अभिलेखागार में बढ़ोतरी करता चला जाएगा। नयी बहसों और विचारोत्तेजक चर्चाओं के लिए यह मंच सदैव खुला रहेगा। रचनात्मक साहित्य और पत्रकारिता के साथ संवाद करने से हमें कोई परहेज़ नहीं है। किसी ठेठ अकादमीय जर्नल के लेखकों और पाठकों के सीमित दायरे के विपरीत हमें अपना बौद्धिक उत्पादन उन अनगिनत लोगों तक भी पहुँचाना है जो अनुशासनबद्ध विमर्श में दिलचस्पी तो रखते हैं लेकिन उस समुदाय के अंग नहीं हैं। लेकिन इसका मतलब यह नहीं हो सकता कि हमारी अकादमीयता साहित्य और पत्रकारिता के कहीं लोकप्रिय और विस्तृत संसार के साथ लेन-देन करते हुए अपना अलग चरित्र खो दे। साहित्यिकता और पत्रकारीयता के बरक्स ***प्रतिमान*** की अकादमीयता स्वयं को सुपरिभाषित रखने पर ज़ोर देती रहेगी। समरसता के बावजूद विशिष्टता को बेहिचक रेखांकित करने और विशिष्टता के माध्यम से समरसता में भागीदारी करने वाला यह नफ़ीस फ़ॉरमूला समझने के लिए हम आख्यान की मिसाल पर ग़ौर कर सकते हैं जो दरअसल एक साहित्यकार, एक पत्रकार और एक अकादमिक अध्ययन करने वाले विद्वान पर एक साथ लागू हो सकती है।

जब एक साहित्यकार किसी आख्यान की रचना करता है तो उस समय वह महज़ आत्मनिष्ठ और कल्पनाशील ही नहीं होता। इसी तरह जब कोई पत्रकार आख्यान पेश करता है तो उसमें निपट विश्लेषणधर्मिता ही नहीं होती। इसमें कोई शक नहीं कि आख्यान की ये दोनों क़िस्में अपने-अपने समाजशास्त्रों में रची-बसी होती हैं। सामाजिक व्यवहार के प्रारूपों का पता लगाने के लिए ये दोनों एक स्रोत का काम करते हैं। पर समाज-विज्ञान और मानविकी के अनुशासनों के तहत रचे जाने वाले आख्यान 'समाजशास्त्रीय रूप से सूचित' इन कृतियों जैसे न हो कर एक सुचिंतित और सुस्थापित प्रणाली से निर्देशित प्रेक्षणों, तथ्यों, आँकड़ों, अभिलेखागार से प्राप्त जानकारियों और उन्हें पुष्ट करने वाली अध्ययन-सामग्री से बनाये जाते हैं। यह तीसरे क़िस्म का आख्यान अकादमीय अनुशासनों के भीतर और उनके बीच होने वाली बहसों को सम्बोधित करते हुए आगे बढ़ता है। उसका रचनाकार अपने आख्यान में सिद्धांतों और अवधारणाओं को गूँथता चलता है। चूँकि इस रचनात्मकता की चुनौतियाँ भिन्न होती हैं इसलिए वह साहित्यकार और पत्रकार की तरह छूटें नहीं ले सकता। वह साहित्यिक कहानी या अख़बारी स्टोरी की उड़ान के बजाय अपनी सामग्री से बँधा रहता है। उसकी उड़ान केवल एक नियंत्रित और संयमित फलक पर ली गई सैद्धांतिक उड़ान ही होती है। लिखित फ़ील्ड नोट्स, अनुसंधान के दौरान

रिकॉर्ड किये गये साक्षात्कारों और अपने विषय के इर्द-गिर्द किये गये द्वितीयक अध्ययन का संसाधन करते हुए अकादमिक लेखक से अपेक्षा की जाती है कि वह उस सुपरिभाषित पद्धति से नहीं हटेगा जिसका चयन उसने शुरुआत में ही कर लिया था।

पद्धति और सामग्री के ये आग्रह अंततः अकादमीयता को अन्य रचनाशीलताओं से विशिष्ट बनाते हैं। इसमें कोई शक नहीं कि अनुसंधान और अध्ययन शुरू करते समय हम किसी न किसी यक़ीन या किसी संकल्पना के मुक़ाम पर खड़े होते हैं। शोध के दौरान हमारे हाथ नयी-नयी सामग्रियाँ लगती हैं, हम अपनी पद्धति को और नफ़ीस बनाते हैं और हमारा सैद्धांतिक फलक स्पष्ट होता चला जाता है। तब हमारा वह शुरुआती मत या तो वही रहता है या थोड़ा-बहुत या फिर पूरा ही बदल जाता है। लेकिन, हर हालत में वह महज़ एक राय, एक विश्वास, एक आस्था, एक वक्तव्य या एक दावा नहीं रह जाता, बल्कि विचारों, सिद्धांतों और बहसों से बुने हुए सघन विमर्श की तरह रचा जाता है।

अकादमीय लेखक जानता है कि एक वक्तव्य का खण्डन प्रति-वक्तव्य दे कर पल भर में किया जा सकता है, लेकिन एक विमर्श का खण्डन आनन-फानन नहीं किया जा सकता। उसे काटने के लिए प्रति-विमर्श की रचना करनी होती है और इसके लिए खण्डन करने वाले को उतना ही बड़ा और गहन अकादमीय अध्यवसाय करना पड़ता है। यह विमर्श-रचना ऐसी भाषा, ऐसी शब्दावली और ऐसी वाक्य-रचना की माँग करती है जिसकी साहित्यिकता और पत्रकारिता के उत्पादन के लिए ज़रूरत नहीं पड़ती। ध्यान रखा जाना चाहिए कि अकादमीय विमर्श-रचना भाषाई विकास की एक प्रक्रिया भी है। अकादमीयता के गहरे संस्कारों के बिना वे भाषाएँ अधूरी रह जाने के लिए अभिशप्त हैं जो केवल साहित्यिकता और पत्रकारीयता पर ही निर्भर रहती हैं। वे केवल अपना प्रसार करती हैं, पर गहराई हासिल नहीं करतीं।

एक और महत्त्वपूर्ण मानक है जो अकादमीयता को पत्रकारिता और साहित्य से अलग करता है। और वह है अकादमीय विश्लेषण की प्रकृति। विश्लेषण और व्याख्या की परस्पर निर्भरता अकादमीयता का अनिवार्य तत्त्व है। अर्थग्रहण के लिए की गयी व्याख्या विश्लेषण की ग़ैर-मौजूदगी में अपनी अकादमीयता खो देती है। यह पहलू उस समय भी अकादमीयता के केंद्र में था जब पारम्परिक विद्वत्ता 'प्रतिनिधित्व के संकट' से बेपरवाह हो कर 'लोक' और 'जन' के नाम पर बोलती रहती थी। आज जब लोगों और जनताओं द्वारा अपनी आवाज़ और अपने लफ़्ज़ों में की गयी दावेदारियों में से समाज-वैज्ञानिक या इतिहासकार के सामने अलग तरह की चुनौतियाँ आ रही हैं तो भी यह पहलू अकादमीयता के केंद्र में है। प्रत्येक अकादमीय आख्यान से अंततः उसके लेखक की आवाज़ सुनाई देनी चाहिए जो उसके विश्लेषण से ही उद्‌भूत होती है। अकादमीय लेखक की यही अपनी आवाज़ उसका 'योगदान' है जिसकी हम और हमारे पूर्व-समीक्षक हिंदी में समाज-विज्ञान रचने वाले हर नये-पुराने लेखक से अपेक्षा करते हैं।

जहाँ तक पूर्व-समीक्षा का सवाल है, यह एक ज़रूरी लेकिन कठिन प्रक्रिया है। और, यह केवल लेखकों के लिए ही नहीं, बल्कि कई बार सम्पादकों के लिए भी कठिनाई पैदा करती है। पश्चिम में पूर्व-समीक्षा की सुस्थापित परम्पराओं के बावजूद यह क्षेत्र अक्सर जद्दोजहद का सामना करता रहता है। कई बार लेखक को लग सकता है कि पूर्व-समीक्षकों ने उसकी रचना का मर्म समझे बिना ही अपना फ़ैसला सुनाया है। वह यह भी कह सकता है कि वह अपनी रचना अपनी मर्ज़ी से करेगा न कि किन्हीं अज्ञात विद्वानों के हिदायतनुमा सुझावों के आधार पर। एकाधिक बार सम्पादक भी किसी रचना पर पूर्व-समीक्षक की राय से सहमत नहीं हो पाते। आख़िरकार जर्नल में छपने आयी रचना का पहला और अंतिम पूर्व-समीक्षक उसका सम्पादक ही होता है। इन अंतर्विरोधों के बावजूद अकादमीय दुनिया मानती है कि अगर पूर्व-समीक्षा का संस्थागत बन चुका रिवाज न होता तो अकादमीयता के मौजूदा संसार की शक्ल कुछ और होती। ख़ास तौर से हिंदी जैसे उन भाषाई क्षेत्रों को तो पूर्व-समीक्षा से फ़िलहाल केवल लाभ ही लाभ हो सकता है।

मसलन, यह पूर्व-समीक्षा ही है जो हिंदी के नवोदित समाज-वैज्ञानिकों, इतिहासकारों और विचारकों को बता सकती है कि महज़ दस रचनाएँ पढ़ कर उनके उद्धरणों के आधार पर लिखी गयी ग्यारहवीं रचना न केवल हमारे लिए बेकार है, बल्कि उसके ज़रिये समाज-चिंतन के अभिलेखागार में कोई योगदान होने नहीं जा रहा है। इसी तरह पूर्व-समीक्षक ही ध्यान दिला सकते हैं कि पश्चिम द्वारा थमायी गयी सैद्धांतिकी सीधे-सीधे भारतीय परिस्थितियों पर आरोपित करने के परिणाम कितने हास्यास्पद या स्तरहीन हो सकते हैं। कुछ लेखकों को युरगन हैबरमास की पब्लिक स्फ़ियर की थियरी से इस क़दर प्रेम है कि वे बेसाख़्ता हर जगह पब्लिक स्फ़ियर ढूँढ़ने पर आमादा दिखायी देते हैं। इस बौद्धिक फ़ैशन की ख़ातिर या तो उनके लेख की गुणवत्ता पर विपरीत असर पड़ता है या फिर उनकी रचना पब्लिक स्फ़ियर की थियरी का एक ट्युटोरियल बन कर रह जाती है। इसी तरह हिंदी के साहित्यिक विचारकों की एक प्रिय धारणा है 'सबाल्टर्न' जिसे हर जगह बिना सोचे-समझे किया जाता है। एक कुशल पूर्व-समीक्षक ही यह देख सकता है कि अतीत या निकट अतीत के किसी विचारक, समाज-सुधारक या साहित्यकार के कृतित्व की मीमांसा करते समय कहीं लेखक अपने वक़्त की 'पॉलिटिकल करेक्टनेस' का शिकार तो नहीं हो गया है। हिंदी में ऐसी रचनाएँ इफ़रात से लिखी जाती हैं जिनकी रैडिकल इतिश्री केवल किसी वांगमय के स्त्री-विरोधी या दलित-विरोधी पहलुओं को खोज निकाल कर हो जाती है। यह सब करना बहुत आसान है। किसी को महज़ पितृसत्तात्मक और ब्राह्मणवादी कहने से कोई विमर्श तैयार नहीं होता। पितृसत्तात्मकता और ब्राह्मणवाद पर उँगली रखना ज़रूरी है, लेकिन इन्हें सघन और संकुल प्रवृत्तियों की तरह देखने वाला समाज-वैज्ञानिक किसी पर चस्पाँ करने के लिए इनका इस्तेमाल सपाट बिल्लों की तरह नहीं कर सकता। इसी तरह पूर्व-समीक्षा स्फीतिकारी लेखन की प्रवृत्ति को संयमित

करने की भूमिका भी निभाती है। हिंदी में अगर एक सिरा फ़ुटनोट-विरोधियों का है, तो दूसरा सिरा अधिक से अधिक फ़ुटनोट दे कर पाठक पर अपनी 'रिसर्च' लाद देना चाहता है। पूर्व-समीक्षा बता सकती है कि कोई रचना अतिरिक्त संदर्भों की माँग करती या नहीं, या फिर उसमें दी गयी पाद-टिप्पणियों और संदर्भों में कितने फ़ालतू हैं और कितने काम के।

प्रवेशांक की ही तरह दूसरे अंक की सामग्री भी सम्पादकीय, परिप्रेक्ष्य, सामयिकी, संधान, अनुशासन, समीक्षा, प्राश्निक, संवाद, स्मृति-शेष और दस्तावेज़ जैसे श्रेणीपरक शीर्षकों के तहत विन्यस्त की गयी है। **परिप्रेक्ष्य** का विषय इस बार ग़दर पार्टी के इतिहास की रोशनी में देशभक्ति और राष्ट्रवाद के भारतीय संस्करणों की पड़ताल करके नये अनुसंधान के लिए निमंत्रण देना है। **अनुशासन** एक नया स्तम्भ है जिसके तहत भारत में राजनीतिशास्त्र की दशा-दिशा पर आलोचनात्मक प्रकाश डाला गया है। **सामयिकी** में मुज़फ़्फ़रनगर की हिला देने वाली साम्प्रदायिक घटनाओं का राजनीतिक-समाजशास्त्रीय आकलन है। पिछली बार **प्राश्निक** में आधुनिक चिंतन में मौलिकता के सवाल पर बहस की गयी थी। इस बार जनपदीय अध्ययन, प्राक्-इतिहास और औपनिवेशिक आधुनिकता उसके केंद्र में है। बीसवीं सदी के तीन उल्लेखनीय विद्वानों वासुदेव शरण अग्रवाल, बरनार्ड एस. कोह्न और दामोदर धर्मानंद कोसम्बी की रचनाओं के ज़रिये यह विमर्श पाठकों तक पहुँचेगा। दलित-प्रश्न पर नयी गहन सैद्धांतिक रोशनी डालने वाला गोपाल गुरु का बेहतरीन लेख **विशेष** के तहत प्रकाशित किया जा रहा है।

शोध-लेखों की श्रेणी **संधान** स्वाभाविक रूप से हर अंक में सबसे बड़ी होगी। इस बार इसमें नौ शोध-आलेख प्रस्तुत किये गये हैं। इनके व्यापक सम्मिलित फलक का एक पहलू काँवड़ यात्रा के नृजातिविवरण (एथ्नोग्राफ़ी) के ज़रिये हिंदू-लोकधर्मिता की आधुनिक संरचनाएँ उकेरने से लेकर इसलाम में इज्तिहाद की धारणा के माध्यम से विवाह क़ानूनों में आ सकने वाले परिवर्तनों की संभावनाएँ रेखांकित करता है। इसका दूसरा पहलू उन्नीसवीं सदी के हिंदी-इतिहास में झाँक कर नागरी-लेखक के बनते हुए किरदार की रूपरेखा प्रस्तुत करने से लेकर सहस्राब्दियों के संधिकाल पर हिंदी के लघु-पत्रिका आंदोलन की सांगठनिक और वैचारिक संरचना की विस्तृत समीक्षा करता है। भारत के पहले आधुनिक नियोजित शहर चण्डीगढ़ के माध्यम से शहरी आधुनिकता की रोचक और विचारोत्तेजक मीमांसा करने वाले शोध-आलेख के साथ-साथ संधान के तहत पाठकों को हमारी संवैधानिक आधुनिकता की सीमाओं की थाह देने वाला एक ऐसा आलेख पढ़ने का मौक़ा भी मिलेगा जिसमें राजद्रोह विरोधी क़ानून भारतीय राज्य की उदारतावादी संरचनाओं से टकराते हुए दिखाये गये हैं। हिंदी नाममाला कोशों की परम्परा का विवरण प्रस्तुत करने वाले अनुसंधान के अलावा संधान में मज़दूरवर्गीय राजनीति के भविष्य के बारे में बेचैनी भरे सवाल उठाने वाला एक आलेख भी शामिल किया गया है जिसके केंद्र में

मारुति उद्योग में हुए ट्रेड यूनियन संघर्ष का विवरण है। प्रवेशांक में मीडिया पर कोई शोध-आलेख नहीं था। पर, इस बार हिंदी सिनेमा में रेडियो के निरूपण और उसके सांस्कृतिक और रोज़मर्रा के संदर्भों का एक ऐतिहासिक जायज़ा लेने की एक बेहतरीन पेशक़दमी की गयी है।

दुर्भाग्य से पिछले छह महीनों ने हमसे हमारे वैचारिक जीवन की कई हस्तियों को छीन लिया है। दलित नारीवाद की सिद्धांतकार और समाजशास्त्री शर्मिला रेगे अल्पायु में ही हमारे बीच से चली गयीं। अपने हिंदी-अंग्रेज़ी शब्दकोश के ज़रिये हिंदी जगत में लोकप्रिय स्टुअर्ट मैक्ग्रेगर का देहांत हो गया। जन-शिक्षा के सरोकार में अपना जीवन खपा देने वाले विनोद रैना कैंसर का शिकार हो गये। साम्प्रदायिकता के ख़िलाफ़ बौद्धिक जद्दोजहद के लिए विख्यात असग़र अली इंजीनियर नहीं रहे। साहित्य और समाज-विज्ञान में समान गति रखने वाले गोविंद पुरुषोत्तम देशपांडे का निधन हो गया। हिंदी साहित्य की अलबेली हस्ती राजेंद्र यादव का 'सर्वप्रिय खलनायकत्व' भी अब यादों में ही रह जायेगा। **स्मृति-शेष** के तहत इन सभी के वैचारिक योगदान को केंद्रस्थ करने वाली श्रद्धांजलियाँ इस अंक में दी जा रही हैं।

एक अकादमीय पत्रिका पुस्तकों की गहन और विस्तृत समीक्षाओं के लिए भी जानी जाती है। **समीक्षा** की यह ज़िम्मेदारी नंदकिशोर आचार्य द्वारा सम्पादित *अहिंसा कोश,* हिंदी में संविधान-रचना पर लिखी गयी पहली किताब कनक तिवारी रचित *संविधान का सच,* मोहनदास नैमिशराय के चार खण्डीय *दलित आंदोलन का इतिहास,* सुधीर चंद्र की रचना *गाँधी : एक असम्भव सम्भावना,* अनुपमा रॉय की कृति *मैपिंग सिटिज़नशिप इन इण्डिया,* शैलश्री शंकर की पुस्तक *स्केलिंग जस्टिस : इण्डियाज़ सुप्रीम कोर्ट, एंटी टेरर लाज़ ऐंड सोशल राइट्स* की समीक्षाओं के रूप में निभायी गयी है। पिछली बार राधावल्लभ त्रिपाठी ने सिमोना साहनी की कृति *मॉडर्निटी ऑफ़ संस्कृत* की विस्तार से समीक्षा की थी। इस बार सिमोना की उस पर प्रतिक्रिया और राधावल्लभजी का प्रत्युत्तर **संवाद** के रूप में प्रकाशित किया जा रहा है। पिछली बार **मक़ता** यानी अंक की अंतिम सामग्री कन्नड़ क्षेत्र से आयी थी, इस बार कोंकणी की बारी है। इसमें पाठकों को कोंकणी के यशस्वी साहित्यकार रवींद्र केलेकर द्वारा ज्ञानपीठ पुरस्कार लेते समय दिया गया छोटा सा लेकिन विचारोत्तेजक वक्तव्य पढ़ने को मिलेगा उसी बहस से जुड़ता है जिसे प्रवेशांक के **प्राश्निक** में उठाया गया था।

अगले साल हमारा संसदीय लोकतंत्र धीरूभाई शेठ के शब्दों में ऐसे परिवर्तनों की सम्भावनाओं का सामना कर रहा होगा जो नयी परिभाषाओं की माँग करेंगे। ऐसे समय में निकलने वाले तीसरे अंक के केंद्र में अन्य सामग्री के साथ-साथ चुनावी राजनीति के विभिन्न आयाम प्रमुखता से प्रस्तुत किये जाएँगे।